

Lecture 15:

Prof Nirmal Kr Singh

Associate Professor

Deptt of LSW

S.N.S.R.K.S College, Saharsa

Email: nirmalsingh245@gmail.com

जाति की उत्पत्ति के सिद्धांत:

भारत में जाति की उत्पत्ति के विषय में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं लेकिन कोई भी सिद्धान्त सही व्याख्या नहीं करता। रिज़ले ने जाति की उत्पत्ति प्रजातीय भिन्नताओं (racial differences) के कारण बताई, नेसफील्ड तथा इबेट्सन ने पेशे को इसका कारण बताया, अबे डुबॉयस ने ब्राह्मणों की भूमिका को इसका कारण बताया, और हट्टन ने “माना” (Mana) को।

परम्परागत सिद्धान्त

कुछ पश्चिमी एवं गैर-भारतीय विद्वानों जैसे ह्यू (Hsu) ने हिन्दू समाज को अन्ध विश्वासों पर केन्द्रित समाज बताया है, जिसमें लोग भावमय (abstract) सत्य से प्रलोभित होते हैं तथा इस सत्य को रहस्यवाद द्वारा ढूँढने का प्रयत्न करते हैं न कि विज्ञान द्वारा। ये विद्वान मानते हैं कि हिन्दू लोग चरम सत्य (ultimate reality) से निकटता ढूँढते हैं और प्रत्येक वस्तु एवं घटना की व्याख्या ईश्वर तथा धर्म में ढूँढते हैं। जाति जैसी संस्था की उत्पत्ति को ये “ब्रह्मा” के शरीर में खोजते हैं। परम्परात्मक सिद्धान्त के अनुसार जाति प्रणाली दैवी विधान (divine ordinance) द्वारा स्थापित की गई है या फिर कम से कम ईश्वर के अनुमोदन (divine approval) से तो अवश्य ही। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की मान्यता है कि जाति प्रणाली मानव निर्मित (man-made) है या फिर कृत्रिम रूप से रचित (artificially-created) है और यह स्तरीकरण की प्रदत्त (ascriptive) प्रणाली है जिसमें प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण जन्म से होता है। परम्परागत सिद्धान्त जाति प्रणाली को एक स्वाभाविक (normal) व प्राकृतिक प्रणाली मानता है। इस सिद्धान्त के दो रूप हैं: मिथकीय (mythical) और आध्यात्मिक (metaphysical)।

मिथकीय कथन एवं पुराण-कथा के अनुसार चार वर्ण ही चार जातियां हैं और ये चारों जातियां ब्रह्म के शरीर के चार अंगों से निकली हैं। इसके अनुसार जाति सामाजिक

कार्यों का प्राकृतिक रूप से निर्धारित एक संगठन है तथा एक विशेष जाति में व्यक्ति की सदस्यता धर्म और कर्म संबंधी सिद्धान्तों के आधार पर समझाई जा सकती है।

जाति का आध्यात्मिक (metaphysical) रूप जाति के लक्षणों, कार्यों तथा संस्तरण पर बल देता है। प्रत्येक जाति का अलग कार्य (function) होता है और यह कार्य उस (जाति) के सदस्यों के “स्वभाव” तथा “गुणों” पर आधारित होता है। हिन्दू दृष्टिकोण से व्यक्ति का स्वभाव दो गुणों में निहित हैं: गोत्रिका और नामिका। “गोत्रिका” का अर्थ वंशानुगत गुणों से है जो व्यक्ति अपनी वंश परम्परा अथवा गोत्र से प्राप्त करता है, और जिसकी वह अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ भागीदारी करता है। “नामिका” व्यक्ति के गुणों से संबंध रखती हैं जो कि विशेष रूप से व्यक्ति के अपने होते हैं तथा वह व्यक्ति उन गुणों की परिवार के सदस्यों के साथ भागीदारी नहीं करता है।

“स्वभाव” तथा “कार्य” (व्यवसाय) को परस्पर अलग नहीं किया जा सकता। यह जाति के दूसरे लक्षण की व्याख्या करता है; वह है: “निश्चित व्यवसाय”। प्रकार्य (functions) दो प्रकार के होते हैं: सामान्य (ordinary) तथा असामान्य/असाधारण (extraordinary)। सामान्य प्रकार्य वे हैं जिनमें किसी विशेष दक्षता या कुशलता की आवश्यकता नहीं होती है, जबकि असाधारण प्रकार्य वे हैं जिनको करने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। असाधारण प्रकार्य फिर तीन प्रकार के होते हैं: तकनीकी-आर्थिक प्रकार्य (techno-economic) राजनैतिक वैधानिक प्रकार्य (politico-legal) सांस्कृतिक-धार्मिक प्रकार्य (cultural-religious)। ब्राह्मण सांस्कृतिक-धार्मिक प्रकार्यों में लगे हैं, क्षत्रिय राजनैतिक-वैधानिक प्रकार्यों में, वैश्य तकनीकी-आर्थिक प्रकार्यों में, और शूद्र सामान्य प्रकार्यों में। प्रथम तीन “द्विज” श्रेणी में आते हैं, क्योंकि उनको पूर्व जन्म में प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था। उपरोक्त तथ्य चार वर्णों की संस्तरणात्मक व्यवस्था की व्याख्या करते हैं, जिन्हें परम्परात्मक सिद्धान्त में चार जातियाँ मानी गयी हैं। प्रकार्यों में अन्तर के आधार पर संस्तरणात्मक संगठन में खानपान संबंधी बन्धनों का अस्तित्व स्वाभाविक ही है। इन प्रतिबन्धों के अभाव में प्रकार्य विभाजन का उद्देश्य ही पीछे रह जायेगा। अतः समूहों के विभिन्न धार्मिक क्रियाकलापों एवं विवाह प्रतिबन्धों की व्याख्या स्वयं ही हो जाती है। यही परम्परात्मक सिद्धान्त का आध्यात्मिक पक्ष है।

जाति की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में परम्परात्मक सिद्धान्त विद्वानों द्वारा विशेष रूप से दो कारणों से अस्वीकार किया गया है- प्रथम, यह सिद्धान्त जाति को स्वाभाविक घटना मानता है; द्वितीय, यह चार वर्णों को ही चार जातियाँ बताता है। इस सन्दर्भ

में एम०एन० श्रीनिवास ने भी लिखा है कि जाति के आधार पर समाज का चार भागों में विभाजन तथ्यों का एक विशुद्ध सरलीकरण मात्र है। जाति व्यवस्था की वास्तविक इकाई “वर्ण” नहीं अपितु “जाति” है, जो एक छोटा अन्तर्विवाही समूह है, जो परम्परागत व्यवसाय अपनाता है तथा जिसे कुछ सांस्कृतिक, धार्मिक व न्यायिक स्वायत्तता प्राप्त है।

ब्राह्मण सिद्धान्त

फ्रांसीसी विद्वान अबे डुबॉयस (Abe Dubois) का मानना है कि भारत में जाति प्रथा का उद्भव और विकास ब्राह्मणों के द्वारा बनाई गई एक चतुर योजना है जो कि ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता चिरस्थाय रखने के लिए रची थी। ब्राह्मणों ने गैर-ब्राह्मणों के साथ खाने-पीने, विवाह तथा सामाजिक संबंधों में प्रतिबन्ध लगा दिए जिससे उनकी धार्मिक पवित्रता बनी रहे जो कि उनके द्वारा किए जाने वाले पुरोहिती कृत्य करने के लिए आवश्यक है। साथ ही उन्होंने स्वयं को “ब्राह्मण” और अन्य ग्रन्थों में ऊँचा पद दिया और अपने लिए विशेषाधिकार और परमाधिकार बना लिए और अन्य सभी लोगों को निम्न पद प्रदान किये।

धुर्ये का भी विश्वास है कि जाति की उत्पत्ति में ब्राह्मणों की प्रमुख भूमिका है। अतः वे ब्राह्मण सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनकी मान्यता है कि वे सभी विविध कारक जो जाति-समाज की विशेषता बताते हैं, ब्राह्मणों के उन प्रयत्नों का फल हैं जो उन्होंने स्वयं को आदिवासियों तथा शूद्रों के धार्मिक व सामाजिक सम्पर्क से पृथक रखने तथा ब्राह्मण सभ्यता को ऊँचा बनाए रखने के लिए किए थे।

समाज में जो सामाजिक प्रतिमान इस सर्वसम्माननीय वर्ग (यानि कि ब्राह्मणों) ने स्थापित किया, वह अन्य समूहों ने सम्मान प्राप्त करने के लिए नकल करना शुरू किया। इस प्रकार विवाह संबंधी तथा खान-पान संबंधी मौलिक प्रतिबन्ध, जो समाज में केवल चार वर्गों के विचार पर आधारित थे, प्रत्येक समूह की विशेषताएं बन गए। अतः धुर्ये ने स्पष्टतः लिखा है कि “भारत में जाति इण्डोआर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो कि गंगा और यमुना के मैदान में पला है और वहाँ से देश के दूसरे भागों में ले जाया गया है”।

हर्टन बहरहाल अनुभव करते हैं कि जाति की उत्पत्ति के विषय में ब्राह्मणीय सिद्धान्त को स्वीकार करना कठिन है। उन्होंने इसके विपक्ष में दो तर्क दिए हैं:

1. यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो इसका अर्थ होगा कि जाति का उद्भव तब हुआ होगा जब ब्राह्मणों ने राजनैतिक शक्ति प्राप्त की होगी। लेकिन हट्टन का मानना है कि जाति का उद्भव इतनी विलम्ब से नहीं हुआ होगा।
2. जाति के समान गहरी जड़ों वाली संस्था किसी प्रशासनिक उपाय के द्वारा थोपी नहीं जा सकती है।

प्रजातीय सिद्धान्त

हरबर्ट रिज़ले इस सिद्धान्त के सबसे बड़े प्रतिपादक रहे हैं, यद्यपि इनके इस सिद्धान्त का अनुमोदन धुर्ये, मजूमदार, वैस्टरमार्क और अन्य विद्वानों ने भी किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार संस्कृतियों के संघर्ष तथा प्रजातियों के सम्पर्क से भारत में जाति के निर्माण की प्रक्रिया सम्भव हुई। विश्व इतिहास में जब कभी किन्हीं लोगों ने दूसरे लोगों को अपने आधीन किया, विजेताओं ने पराजित लोगों की स्त्रियों को न केवल अपनी रखैल या पत्नी बनाया, अपितु अपनी लड़कियाँ उन्हें देने से मना कर दिया। जब ये दो समूह (पराजित व विजेता) एक ही प्रजाति के तथा एक ही रंग आदि के होते हैं, तो इनमें पूर्ण सम्मिश्रण (amalgamation) हो जाता है। लेकिन यदि वे अलग-अलग प्रजाति या रंग के हों तो विकास की दिशा अलग रास्तों पर चलती है। इस प्रकार उच्च समूह की स्त्रियाँ और निम्न समूहों के पुरुषों के अनियमित मेल-जोल के कारण एक अर्द्ध-नस्ल (half-breed) का वर्ग बन जाता है जिसके सदस्य केवल आपस में ही विवाह करते हैं तथा हर दृष्टि से एक जाति के रूप में कार्य करते हैं।

भारत में भी प्रवासी आर्यों के संस्कारों के बारे में अपने ही विचार थे। वे मूल निवासियों को अपने से निकृष्ट समझते थे। इसके अतिरिक्त, आर्य लोग पितृवंशीय थे जबकि पराजित मूल निवासी मातृवंशीय थे। उन्होंने आदिवासियों की लड़कियों से विवाह तो किया किन्तु अपनी लड़कियों को उन्हें नहीं दिया। ऐसे विवाहों से उत्पन्न बच्चों को समाज में निम्नतम स्थान प्रदान किया गया और उन्हें “चाण्डाल” कहा गया। अतः अर्द्ध-नस्ल समूह की उत्पत्ति तथा प्रजाति श्रेष्ठता की भावना परिणामतः जाति व्यवस्था के उत्पत्ति का कारण बन गये। रिज़ले के प्रजातीय सिद्धान्त का समर्थन अनेक विद्वानों ने किया है। धुर्ये के अनुसार मूल निवासियों की तुलना में अधिक सभ्य एवं गौर वर्ण (fair) होने के नाते आर्यों ने अपना अलगपन दर्शाने की चेष्टा की है। सामाजिक व्यवहार में एकांतिक तथा संस्कारों की पवित्रता में उनका विश्वास मूल निवासियों से भिन्न था। वे मूल निवासियों के बारे में कठोर शब्द प्रयोग करते थे और उनके साथ सामाजिक क्रियाओं में अनेक प्रतिबन्ध लगाते थे।

एन०के० दत्त, डी०एन० मजूमदार और वेस्टरमार्क ने भी जाति व्यवस्था की उत्पत्ति संबंधी प्रजातीय सिद्धान्त का समर्थन किया है। वेस्टरमार्क का कहना है कि आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में श्याम वर्ण के लोग रहते थे। मूल निवासियों की आर्यों के प्रति विद्वेष की भावना तथा आर्यों की उदासीनता जो मूल निवासियों के प्रति उनमें थी, दोनों ही तथ्यों ने आर्यों और अनार्यों में तीव्र भेद विकसित किये। इन्हीं भेदों के कारण जाति व्यवस्था का जन्म हुआ। हर्टन के विचार से भी प्रजाति जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में एक आवश्यक कारक है। यदि रिज़ले के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाये तब तो जाति व्यवस्था ने केवल भारत में होनी चाहिए बल्कि उन सभी समाजों में भी होनी चाहिए जिन पर अन्य प्रजातीय समूहों ने विजय प्राप्त की। रिज़ले का स्वयं का मत भी यही है कि जाति प्रथा भारत तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह तो स्पष्ट रूप से दक्षिण अमेरिका, कनाडा, मैक्सिको आदि में भी विद्यमान है।

व्यावसायिक सिद्धान्त

जाति प्रणाली की उत्पत्ति के विषय में इस सिद्धान्त के प्रतिपादक ने सफील्ड व उसके समर्थक डैन्जिल इब्बेटसन विश्वास करते हैं कि जाति की उत्पत्ति को प्रजाति या धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है, बल्कि पेशा ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है। नेसफील्ड मानते हैं कि एक पेशा की तकनीकी दक्षता वंशानुक्रम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दे दी जाती थी तथा लोग एक ही पेशे को लम्बे समय तक अपनाते रहते थे और इस प्रकार “व्यावसायिक संघों” (occupational guilds) का अस्तित्व प्रारम्भ हुआ जिनको बाद में “जाति” कहा जाने लगा। उनके अनुसार, जाति प्रथा में संस्तरण (hierarchy) व्यवसायों से जुड़ी श्रेष्ठता व हीनता की भावना का नतीजा है। उनका मानना है कि किसी भी जाति का उच्च या निम्न दर्जा इस बात पर निर्भर करता है कि तत्संबंधी उद्योग जिसका जाति प्रतिनिधित्व करती है, वह संस्कृति के विकसित या पिछड़ेपन की अवस्था से संबद्ध है। वे धातु शिल्पियों (artisans) का उदाहरण देते हैं जो टोकरी बनाने वालों और धातु का प्रयोग न करने वाले पेशों में लगे लोगों से स्वयं को श्रेष्ठ समझते हैं। यह समझाते हुए कि ब्राह्मणों ने जातीय संस्तरण व्यवस्था में किस प्रकार श्रेष्ठ पद बना लिया, वे कहते हैं कि ब्राह्मण भी “पेशा” की दृष्टि से संस्कारों, बलि देने, यज्ञ, व जप में विशिष्टता लिए हुए थे। क्योंकि उस समाज में सामाजिक जीवन में यज्ञ और बलि का बड़ा महत्व था, इसलिये ब्राह्मण समाज में महत्वपूर्ण और सम्माननीय बन गए। इस प्रकार ब्राह्मण जाति व्यवस्था में प्रथम थे और इसी मॉडल पर अन्य शेष जातियां बनीं। नेसफील्ड ने जाति उत्पत्ति के दो कारण दिए हैं: पेशा या व्यवसाय, और जनजाति का संगठन।

नेसफील्ड का समर्थन करते हुए डेन्जिल इब्बेटसन ने भी जाति की उत्पत्ति को तीन कारकों का परिणाम माना है: (i) जनजाति (ii) संघ (guilds) (iii) धर्म। वह कहते हैं कि जनजातियाँ पेशेवर संघों के रूप में विकसित हुईं और वे (संघ) धार्मिक रूप से कार्य करने लगे और इस प्रकार सामाजिक विकास की प्रक्रिया में उनका जातियों के रूप में विकास हुआ। अनेक विद्वानों ने नेसफील्ड और इब्बेटसन के सिद्धान्तों की आलोचना की है। सेनार्ट (Senart) ने एक प्रश्न रखा है कि चूंकि अनेक जातियाँ एक से अधिक पेशों में लगी हैं, वे अपने नाम किस प्रकार रखती हैं? क्या वे अपने प्रमुख (dominant) व्यवसाय पर नाम रखती हैं? सेनार्ट दावा करते हैं कि रूस में अनेक गाँव ऐसे हैं जहाँ समूची जनसंख्या एक ही पेशे में लगी होती है; जैसे, जूते बनाने में या वर्तन बनाने, आदि में। ये गाँव केवल समूहों का एकत्रीकरण नहीं हैं जो कि एक ही समुदाय के रूप में उदित हुए बल्कि ऐसे समुदाय के रूप में हैं जो केवल एक ही उद्योग में लगे हैं। व्यवसाय समूहीकरण का कारण ही है, अपितु समूहीकरण ही पेशेवर समुदाय के लिए उत्तरदायी होता है। तब फिर भारत में ऐसा क्यों नहीं है?

डी०एन० मजूमदार (1952:292) ने भी नेसफील्ड के विचारों की आलोचना की है, विशेषकर जातीय संस्तरण की, जिसमें पेशों के आधार पर श्रेष्ठता व हीनता की भावना का विकास बताया गया है। उनकी मान्यता है कि जातियों की प्रस्थिति पेशे की श्रेष्ठता व हीनता पर निर्भर नहीं करती है, बल्कि रक्त की शुद्धता की मात्रा और समूहों के एकाकीपन की सीमा पर निर्भर करती है। हट्टन भी विश्वास करते हैं कि नेसफील्ड का व्यावसायिक सिद्धान्त विभिन्न कृषक जातियों के सामाजिक स्तर की व्याख्या नहीं करता है।

केतकर का सिद्धान्त

केतकर ने जाति की उत्पत्ति प्रारम्भिक जनजातियों से तथा मनुष्यों की मनोवैज्ञानिक पक्षपाती प्रवृत्तियों (prejudicial tendencies) से मानी है। उनका विश्वास है कि जातियाँ विकसित जनजातियाँ या परिवर्तित (converted) वर्ग हैं। अनेक जनजातियाँ जो भारत के विभिन्न भागों में रहती थीं, विभिन्न इकाईयों के रूप में मौजूद थीं और अन्तर्विवाह प्रथा के चलन में आने के बाद वे सब यूरोपियन जनजातियों की तरह एक दूसरे से नहीं मिलीं। इनमें से अनेक जनजातियाँ आपस में संघर्षरत रहीं क्योंकि उनके सरदारों ने या तो सीमा के प्रश्न पर संघर्ष किया था या फिर एक कबीले के किसी व्यक्ति ने दूसरे कबीले की किसी लड़की का अपहरण कर लिया था। इन संघर्षों के कारण लोग दूसरी जनजातियों में विवाह की अवहेलना करते रहे और हर प्रकार से अपनी ही जनजाति के सदस्यों के बीच अन्तर्क्रिया करते रहे। केतकर आगे और

मानते हैं कि “जाति व्यवस्था की उत्पत्ति” के विषय में बात करने की अपेक्षा, हमें “जाति के विविध लक्षणों की उत्पत्ति” के विषय में बात करनी चाहिए क्योंकि प्रत्येक लक्षण के पीछे उसकी उत्पत्ति का एक इतिहास है न कि पूरी जाति व्यवस्था का, क्योंकि जाति व्यवस्था के विभिन्न लक्षणों के विकास की प्रक्रिया में 3000 वर्ष का समय लगा। इस प्रकार केतकर के अनुसार “जाति की उत्पत्ति” कथन का कोई अर्थ नहीं है, यद्यपि अन्तर्विवाह की अपनी उत्पत्ति है, वंशानुगत पेशे और खानपान के प्रतिबन्धों की अपनी उत्पत्ति का इतिहास है, पुरोहितों की प्रभुता (ascendency) और उनकी प्रथाभाव की अपनी उत्पत्ति है, तथा पवित्रता और अपवित्रता की भी अपनी उत्पत्ति है। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक घटना (लक्षण) की उत्पत्ति हो सकती है, लेकिन जब तक “जातियां” जैसे शब्द सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में रहेंगे तब तक “जाति व्यवस्था” की उत्पत्ति के विषय में विचार भी नहीं किया जा सकता।

केतकर के सिद्धान्त की आलोचनात्मक मूल्यांकन की आवश्यकता है। उनका मुख्य विचार कि जातियों की उत्पत्ति जनजातियों से हुई, राइस के टोटमवाद सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम मालूम पड़ता है जिसके अनुसार जाति की उत्पत्ति टोटम तथा निषेधों (taboos) में विश्वास के कारण हुई। बी०एस० गुहा ने भी राइस के सिद्धान्त के समान ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बनर्जी ने भी बताया है कि जाति की उत्पत्ति आदिकाल के जादू-टोनों में विश्वास के कारण हुई। जनजातियों से जातियों की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ होगा उस तथ्य को स्वीकार करना कि जाति व्यवस्था का विकास आर्यों द्वारा न होकर मूल निवासी द्रविड़ों द्वारा हुआ।

सेनार्ट का सिद्धान्त

सेनार्ट ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का स्रोत आर्यों को माना है। उनकी मान्यता है कि जाति व्यवस्था के लक्षण आर्य प्रजाति की सभी शाखाओं में समान रूप से उपयोग और परम्पराओं का अंग हैं और ये समान लक्षण हैं: व्यक्तिगत जीवन, विवाह-भोजन, तथा संस्कारों को नियमित करने का क्षेत्राधिकार, कुछ आराधना के व्यवहार तथा निगमित संगठन आदि। भारतीय, यूनानी और रोमवासी सभी तो आर्य हैं और उनकी सभ्यताएं प्राचीनतम हैं। सेनार्ट इन तीनों में कुछ समानताएं पाते हैं। जिस प्रकार भारत में तीन प्रमुख समूह हैं परिवार, गोत्र और जाति उसी प्रकार जेन (gen), क्यूरिया (Curia) और जनजाति (tribe) रोम में, तथा परिवार, फ्रत्रिय (Pharatria) और फाइल (Phyle) यूनान में हैं। जिस प्रकार गोत्र भारत में बर्हिंविवाही समूह है उसी प्रकार रोम में जेन तथा यूनान में फ्रत्रिय भी अपने ही समूह में विवाह संबंध सीमित रखते हैं। भारतीय ब्राह्मण और रोमन पादरी दोनों ही को अनुलोम

(Hypergamous) विवाह के अधिकार हैं। उसी प्रकार, जिस तरह भारत में विवाह के बाद स्त्री के गोत्र का परिवर्तन उसके पति के गोत्र में हो जाता है उसी तरह का रिवाज रोम में भी प्रचलित है। भारत के “हुक्का पानी बन्द” (बहिष्कार) रिवाज की तुलना रोम में एक रिवाज (Interdict aquae igni) से की जा सकती है। जैसे भारत में जाति पंचायतें हैं और सरपंच उसका मुखिया और सबसे अधिक शक्तिमान नेता होता है, उसी प्रकार रोम और यूनान में भी इसी प्रकार की शक्तिवान समितियां होती हैं। इस तुलना के आधार पर सेनार्ट मानते हैं कि जाति, प्राचीन आर्यों की संस्थाओं की सामान्य विकसित रूप है। भारत में, तथापि विशेष दशाओं के कारण, जाति ने विशेष रूप धारण किया है।

लेकिन दैहलमन तथा नरमदेश्वर प्रसाद जैसे विद्वानों ने सेनार्ट के सिद्धान्त की आलोचना की है। नरमदेश्वर प्रसाद की मान्यता है कि सेनार्ट से सहमति कठिन है क्योंकि उनके द्वारा दिए गए ऐतिहासिक समानान्तर साक्ष्य उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन भारत में जाति व्यवस्था थी ही नहीं जैसा कि सेनार्ट ने बताया, बल्कि यह तो ब्राह्मण युग में विकसित हुई।

हट्टन का “माना” सिद्धान्त

हट्टन ने आदिम अवधारणा (conception) “माना” पर जातियों की उत्पत्ति के लिए जोर डाला है, जिसका समर्थन शरद चन्द्र राय, राइस तथा स्मार्ट जैसे विद्वानों ने किया है। हट्टन के अनुसार “माना” एक अवैयक्तिक, अलौकिक तथा अदृश्य शक्ति है जो व्यक्तियों, वस्तुओं व स्थानों में मिलती है। यह विश्वास किया जाता है कि “माना” को व्यक्तियों को हानि पहुंचाने की शक्ति है। जहां पर भी “माना” में विश्वास प्रचलित है वहाँ एक संरक्षक (protective) उपाय के रूप में “निषेध” में भी विश्वास मिलता है। अतः एक जनजाति के सदस्यों को दूसरी जनजातियों के “माना” से बचाने के लिए उन पर खान-पान, अन्तर्विवाह और पारस्परिक अन्तःक्रिया संबंधी निषेध लगाये गये थे। हट्टन का कहना है कि जनजातियां अपरिचितों के खाने को खतरनाक मानती हैं। अतः दूसरों के साथ सहभोज पर प्रतिबन्ध तथा सम्पर्क रखने पर रोक इस विश्वास पर आधारित है कि ये (सहभोज और सम्पर्क) अपरिचितों के खतरनाक “आत्मा-पदार्थ” (soul-matter) से संदूषित (infected) हो सकते हैं।

सहभोज के निषेधों की तरह ही अन्य निषेध भी लोगों को “माना” से बचाने के लिए लगाए गए। हट्टन मानना है कि “माना” सिद्धान्त अन्य धर्मों में भी माना जाता है। बौद्धों में यह “इधि” (Iddhi), मुसलमानों में “कुदरत” और हिन्दुओं में “शक्ति” नाम से यह परिचित है। तथापि ऐसा लगता है कि ऋग्वैदिक आक्रमणकारियों के रूप में

जब आर्य भारत में आये तो उनमें जो श्रेणीकृत (graded) सामाजिक वर्ग थे उनके सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव के कारण ही हमारे उस समाज में सामाजिक प्राथमिकता का सिद्धान्त स्थापित हुआ जो पहले से ही निषेधों के कारण पृथक्कृत (isolated) समूहों में विभाजित था। डी०एन० मजूमदार ने हर्टन की “माना” के आधार पर जाति की व्याख्या की आलोचना की है। वे मानते हैं कि दूसरे समाजों में भी जनजातियां “माना” में विश्वास करती हैं, लेकिन हमें वहाँ जाति व्यवस्था नहीं मिलती। भारत में यह (जाति व्यवस्था) प्रजातीय संघर्षों एवं भेदों का फल है।

अन्त में जाति की उत्पत्ति के संबंध में यह कहा जा सकता है कि “विविध कारकों” वाले सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह मानना अनुचित नहीं होगा कि भारत में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के कारकों में प्रमुख इस प्रकार हैं प्रजातीय-भिन्नताओं के कारण आर्यों की मूल निवासियों से श्रेष्ठता की भावना, ब्राह्मणों का एकाधिकार पूर्ण पुरोहितपन, पेशों की भिन्नता, और संस्कारों की पवित्रता और अपवित्रता से सम्बद्ध धार्मिक विचार जो कि आरम्भ में शूद्रों (मूल निवासियों) पर लागू किये गये थे और बाद में कुछ पेशों के प्रति वैचारिक अपवित्रता संबंधी विचार के कारण अन्य समूहों पर भी लागू किये गये। इस संबंध में यह भी स्मरणीय है कि जाति व्यवस्था के विकास में अनेक कारकों का योग रहा है। समूहों की विखण्डन की प्रवृत्ति, एवं एकता की भावना तथा प्रत्येक जाति में “हम भाव” को कुछ निम्न सामाजिक-राजनैतिक कारकों द्वारा प्रश्रय मिला; जैसे, राज्य द्वारा कठोर सैनिक नियंत्रण का अभाव, कानून और प्रथा संबंधी समान स्तर को लागू करने के लिए शासकों की अनिच्छा, विविध समूहों की भिन्न प्रथाओं को वैध मानने के लिए उन (शासकों) की तत्परता, तथा घटनाओं को अपने आप समायोजन करने के लिए समय देने की उनकी प्रवृत्ति। इन सभी कारकों ने कुछ भिन्नताओं पर आधारित जाति के निर्माण को प्रोत्साहित किया।

-----*****The End*****-----